राजा बनाम राज्य: प्राचीन काल में न्यायिक उत्तरदायित्व और आधुनिक आपराधिक न्याय व्यवस्था

शशि कांत दुबे[1] डॉ. सुधीर कुमार जैन[2]
[1] शोधार्थी, एकेएस विश्वविद्यालय, सतना, मध्य प्रदेश
[2] प्रोफेसर, विधिसंकाय, एकेएस विश्वविद्यालय, सतना, मध्य प्रदेश

सारांश—यह शोध-पत्र "राजा बनाम राज्य: प्राचीन काल में न्यायिक उत्तरदायित्व और आधुनिक आपराधिक न्याय व्यवस्था" विषय के अंतर्गत प्राचीन भारतीय न्याय प्रणाली तथा आधुनिक राज्य-केन्द्रित आपराधिक न्याय व्यवस्था का तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। न्याय किसी भी संगठित समाज का आधार होता है और प्राचीन भारत में यह व्यवस्था पूर्णतः व्यक्ति-केन्द्रित थी। राजा न केवल शासन का प्रमुख था, बल्कि न्याय का प्रत्यक्ष स्रोत भी माना जाता था। उसका दायित्व था कि वह धर्म, नीति और शास्त्रों के अनुरूप निष्पक्ष निर्णय दे। न्याय में किसी भी प्रकार की त्रुटि को केवल विधिक दोष नहीं, बल्कि नैतिक एवं धार्मिक अपराध माना जाता था, जिससे राजा की व्यक्तिगत जवाबदेही सुनिश्चित होती थी। इस प्रकार प्राचीन न्याय व्यवस्था में न्यायिक उत्तरदायित्व अत्यंत सुदृढ़ और नैतिक नियंत्रण से युक्त था।

इसके विपरीत, आधुनिक आपराधिक न्याय व्यवस्था राज्य-केन्द्रित एवं संस्थागत स्वरूप की है। वर्तमान प्रणाली में अपराध को व्यक्ति के विरुद्ध न मानकर राज्य के विरुद्ध माना जाता है तथा न्याय पुलिस, अभियोजन और न्यायपालिका जैसी विधिक संस्थाओं के माध्यम से संचालित होता है। इस व्यवस्था का आधार लिखित कानून, प्रक्रिया की निश्चितता और संवैधानिक मूल्यों पर आधारित है। यद्यपि इससे विधिक समानता और निष्पक्षता को बढ़ावा मिलता है, तथापि न्यायिक उत्तरदायित्व का नैतिक और मानवीय पक्ष अपेक्षाकृत कमजोर हो गया है।

यह शोध-पत्र न्यायिक उत्तरदायित्व, दंड की अवधारणा, पीड़ित की भूमिका तथा न्याय के उद्देश्य जैसे महत्वपूर्ण पहलुओं का विश्लेषण करता है। अंततः यह निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि यदि आधुनिक आपराधिक न्याय व्यवस्था में प्राचीन न्याय प्रणाली की नैतिकता, व्यक्तिगत उत्तरदायित्व और धर्म-आधारित दृष्टिकोण को समाहित किया जाए, तो न्याय व्यवस्था अधिक प्रभावी, उत्तरदायी एवं जन-विश्वासपूर्ण बन सकती है।

मुख्य शब्द—राजा, राज्य, न्यायिक उत्तरदायित्व, प्राचीन न्याय व्यवस्था, आधुनिक आपराधिक न्याय प्रणाली

शोध पद्धति

यह शोध मुख्यतः सैद्धांतिक (Doctrinal) एवं विश्लेषणात्मक पद्धति पर आधारित है। अध्ययन के अंतर्गत प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रों, स्मृतियों तथा राजनैतिक ग्रंथों जैसे मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति और कौटिल्य के अर्थशास्त्र का विश्लेषण किया गया है, ताकि प्राचीन काल में न्यायिक उत्तरदायित्व की प्रकृति को समझा जा सके।

इसके साथ-साथ आधुनिक आपराधिक न्याय व्यवस्था के अध्ययन हेतु भारतीय संविधान, भारतीय दंड संहिता, दंड प्रक्रिया संहिता तथा प्रमुख न्यायिक निर्णयों का परीक्षण किया गया है। यह शोध तुलनात्मक (Comparative) दृष्टिकोण अपनाता है, जिसके माध्यम से प्राचीन और आधुनिक न्याय प्रणालियों की संरचना, उद्देश्य, उत्तरदायित्व और दार्शनिक आधारों का विश्लेषण किया गया है।

अध्ययन का स्वरूप गुणात्मक (Qualitative) है, जिसमें प्राथमिक स्रोतों (धर्मशास्त्र, विधि ग्रंथ, संवैधानिक प्रावधान) तथा द्वितीयक स्रोतों (पुस्तकें, शोध लेख, विधि विशेषज्ञों के विचार) का उपयोग किया गया है। शोध का उद्देश्य किसी सांख्यिकीय निष्कर्ष तक पहुँचना नहीं, बल्कि न्यायिक उत्तरदायित्व की अवधारणा के दार्शनिक एवं विधिक विकास को समझना है।

शोध परिकल्पना

इस शोध की मुख्य परिकल्पना यह है कि प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था में न्यायिक उत्तरदायित्व व्यक्तिगत, नैतिक और धर्माधारित था, जबकि आधुनिक आपराधिक न्याय व्यवस्था में यह उत्तरदायित्व संस्थागत, विधिक और प्रक्रिया-आधारित हो गया है।

द्वितीय परिकल्पना यह है कि आधुनिक न्याय प्रणाली ने विधिक समानता और प्रक्रिया की पारदर्शिता को सुदृढ़ किया है, परंतु इससे न्यायिक उत्तरदायित्व का प्रत्यक्ष नैतिक

आयाम अपेक्षाकृत कमजोर हुआ है। अतः यदि आधुनिक प्रणाली में प्राचीन न्याय दर्शन की नैतिकता और लोककल्याण की भावना को समाहित किया जाए, तो न्याय अधिक मानवीय और प्रभावी बन सकता है।

शोध उद्देश्य

इस शोध का प्रमुख उद्देश्य प्राचीन और आधुनिक न्याय प्रणालियों में न्यायिक उत्तरदायित्व की अवधारणा का तुलनात्मक अध्ययन करना है। इसके अंतर्गत निम्नलिखित विशिष्ट उद्देश्यों को निर्धारित किया गया है—

1. **प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था में राजा की न्यायिक भूमिका का विश्लेषण करना।**
2. **धर्मशास्त्रों एवं प्राचीन ग्रंथों के आधार पर न्यायिक उत्तरदायित्व की प्रकृति को स्पष्ट करना।**
3. **आधुनिक आपराधिक न्याय व्यवस्था की संरचना और उसके उत्तरदायित्व तंत्र का अध्ययन करना।**
4. **"राजा बनाम राज्य" की अवधारणा के माध्यम से न्यायिक उत्तरदायित्व के ऐतिहासिक परिवर्तन को समझना।**
5. **दोनों प्रणालियों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह सुझाव देना कि आधुनिक न्याय व्यवस्था को अधिक उत्तरदायी और मानवीय कैसे बनाया जा सकता है।**

I. प्रस्तावना

धर्मेण पालयन् राजा, प्रजाः पालयति स्मृतः।
अधर्मेण तु पालयन्, स्वयमेव विनश्यति॥
(मनुस्मृति)[1]

न्याय किसी भी सभ्य, संगठित एवं उत्तरदायी समाज की आधारशिला है, क्योंकि यही सामाजिक संतुलन, अधिकारों की सुरक्षा तथा कर्तव्यों की मर्यादा को सुनिश्चित करता है। किसी भी शासन व्यवस्था की वैधता अंततः इस बात पर निर्भर करती है कि वह अपने नागरिकों को कितनी निष्पक्ष, त्वरित और नैतिक रूप से उचित न्याय प्रदान करती है। भारतीय दार्शनिक एवं विधिक परंपरा में न्याय को केवल विधिक प्रक्रिया न मानकर धर्म, नैतिकता और लोककल्याण से जुड़ी व्यापक अवधारणा के रूप में स्वीकार किया गया है।[2] इसी वैचारिक पृष्ठभूमि में "राजा बनाम राज्य" की धारणा न्यायिक उत्तरदायित्व के ऐतिहासिक रूपांतरण को समझने का महत्वपूर्ण आधार प्रदान करती है।

प्राचीन भारत में न्याय व्यवस्था व्यक्ति-केन्द्रित थी, जहाँ राजा को "धर्म का संरक्षक" और न्याय का प्रत्यक्ष स्रोत माना गया है।[3] मनुस्मृति तथा अर्थशास्त्र जैसे ग्रंथों में स्पष्ट किया गया है कि राजा का प्रमुख कर्तव्य निष्पक्ष न्याय देना था; अन्यथा उसका शासन अधर्मपूर्ण माना जाता था।[4] न्यायिक त्रुटि केवल प्रशासनिक दोष नहीं बल्कि नैतिक पतन का द्योतक थी, जिससे राजा की वैधता और राज्य की स्थिरता दोनों प्रभावित होती थीं। इस प्रकार न्यायिक उत्तरदायित्व व्यक्तिगत, नैतिक तथा दैविक दंड की अवधारणाओं से नियंत्रित था।

इसके विपरीत, आधुनिक आपराधिक न्याय व्यवस्था राज्य-केन्द्रित एवं संस्थागत स्वरूप धारण कर चुकी है। अब अपराध को व्यक्ति के विरुद्ध न मानकर राज्य के विरुद्ध अपराध के रूप में परिभाषित किया जाता है।[5] न्याय पुलिस, अभियोजन तथा न्यायपालिका जैसे विधिक संस्थानों के माध्यम से संचालित होता है, जिसका आधार लिखित विधि, प्रक्रिया की सुनिश्चितता तथा संवैधानिक मूल्यों में निहित है।[6] यद्यपि इस व्यवस्था ने विधिक समानता और प्रक्रिया की पारदर्शिता को सुदृढ़ किया है, तथापि न्यायिक उत्तरदायित्व का प्रत्यक्ष नैतिक पक्ष अपेक्षाकृत कम स्पष्ट प्रतीत होता है। अतः प्राचीन और आधुनिक न्याय प्रणालियों के तुलनात्मक अध्ययन से यह समझना आवश्यक हो जाता है कि न्यायिक उत्तरदायित्व की प्रकृति समय के साथ कैसे परिवर्तित हुई है, और क्या दोनों युगों की श्रेष्ठ अवधारणाओं के समन्वय से अधिक मानवीय, उत्तरदायी तथा जन-विश्वासपूर्ण न्याय व्यवस्था विकसित की जा सकती है।

II. प्राचीन काल में राजा की न्यायिक भूमिका

प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था में राजा केवल प्रशासनिक प्रमुख नहीं, बल्कि न्याय का सर्वोच्च स्रोत माना जाता था। न्याय प्रदान करना उसका प्रमुख राजधर्म था, जिसके माध्यम से वह धर्म, सामाजिक व्यवस्था और लोककल्याण

[1] मनुस्मृति, सप्तम अध्याय (राजधर्म), श्लोक 20, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2019 संस्करण, पृष्ठ 462।
[2] एस. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, खंड II, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
[3] मनुस्मृति, अध्याय 7, श्लोक 14–20 (राजधर्म और न्याय संबंधी कर्तव्य).
[4] कौटिल्य, *अर्थशास्त्र*, पुस्तक I, अध्याय 19–21 (राजा का दंड एवं न्याय दायित्व).
[5] कौटिल्य, अर्थशास्त्र, पुस्तक I, अध्याय 19–21 (राजा का दंड एवं न्याय आंदोलन)।
[6] भारत का संविधान, अनुच्छेद 14, 21; दंड प्रक्रिया संहिता, 1973, धारा 154, 190 (आपराधिक प्रक्रिया का संस्थागत ढाँचा).

की रक्षा करता था।[7] राजा की न्यायिक भूमिका दैवी वैधता से जुड़ी मानी जाती थी, अर्थात् उसे पृथ्वी पर धर्म की स्थापना हेतु नियुक्त संरक्षक के रूप में देखा जाता था। इस कारण न्याय करना केवल शासकीय कार्य नहीं, बल्कि धार्मिक एवं नैतिक दायित्व भी था।

धर्मशास्त्रों में वर्णित है कि राजा को प्रतिदिन न्यायसभा में उपस्थित होकर प्रजा की शिकायतें सुननी चाहिए। मनुस्मृति में राजा को निष्पक्ष, निर्भीक और पक्षपात रहित न्याय करने का निर्देश दिया गया है, अन्यथा वह अधर्म का भागी माना जाता है।[8] इसी प्रकार कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजा को न्याय प्रणाली का अंतिम निर्णायक बताया गया है, जो दंडनीति के माध्यम से सामाजिक अनुशासन बनाए रखता है।[9] यहाँ दंड का उद्देश्य प्रतिशोध नहीं, बल्कि व्यवस्था की पुनर्स्थापना और अपराधी का सुधार था।

राजा न्याय करते समय शास्त्र, परंपरा, साक्ष्य और लोकाचार को आधार बनाता था। उसके निर्णय में धर्मशास्त्रों का मार्गदर्शन सर्वोपरि माना जाता था, परंतु परिस्थितियों के अनुसार व्यावहारिक विवेक का भी उपयोग किया जाता था। नारद स्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में न्यायिक प्रक्रिया के विभिन्न स्तरों—वाद, साक्ष्य, शपथ और निर्णय—का उल्लेख मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि न्याय व्यवस्था सुव्यवस्थित और सिद्धांतबद्ध थी।[10]

महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि यदि राजा अन्याय करता था, तो उसे दैवी दंड, प्रजा के असंतोष और राज्य के पतन का कारण माना जाता था। इस प्रकार न्यायिक उत्तरदायित्व व्यक्तिगत स्तर पर अत्यंत सशक्त था। राजा का नैतिक चरित्र और न्यायप्रियता ही उसके शासन की स्थिरता का आधार मानी जाती थी।[11]

अतः प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था में राजा की भूमिका केवल विधिक निर्णयकर्ता की नहीं, बल्कि धर्म, नैतिकता और सामाजिक संतुलन के संरक्षक की थी। यही कारण है कि उस युग में न्यायिक उत्तरदायित्व प्रत्यक्ष, व्यक्तिगत और गहराई से नैतिक मूल्यों से जुड़ा हुआ था।

III. प्राचीन न्याय व्यवस्था में न्यायिक उत्तरदायित्व

प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था में न्यायिक उत्तरदायित्व का स्वरूप अत्यंत सशक्त, नैतिक तथा बहु-स्तरीय था। न्याय केवल विधिक दायित्व नहीं, बल्कि धर्म पालन का अनिवार्य अंग माना जाता था। राजा, न्यायाधीशों तथा सभा के अन्य सदस्यों से अपेक्षा की जाती थी कि वे निर्णय देते समय सत्य, धर्म और निष्पक्षता का पालन करें, क्योंकि न्याय में त्रुटि को सामाजिक ही नहीं, दैवी अपराध भी माना जाता था।[12] इस प्रकार न्यायिक उत्तरदायित्व व्यक्ति के आचरण, नैतिकता और आध्यात्मिक उत्तरदायित्व से गहराई से जुड़ा हुआ था।

धर्मशास्त्रों में यह स्पष्ट रूप से वर्णित है कि यदि न्यायाधीश या राजा पक्षपातपूर्ण या अन्यायपूर्ण निर्णय देता है, तो वह पाप का भागी बनता है। मनुस्मृति में कहा गया है कि अन्यायपूर्ण दंड देने वाला शासक स्वयं दंड का अधिकारी हो जाता है, क्योंकि उसने धर्म से विचलन किया है।[13] इसी प्रकार याज्ञवल्क्य स्मृति में न्यायाधीशों को सत्य की शपथ लेकर निर्णय देने का निर्देश दिया गया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि न्यायिक प्रक्रिया में नैतिक अनुशासन अनिवार्य तत्व था।[14]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में न्यायिक अधिकारियों की उत्तरदायित्व व्यवस्था और भी स्पष्ट रूप से मिलती है। यदि कोई न्यायाधीश जानबूझकर गलत निर्णय देता है, साक्ष्यों की उपेक्षा करता है या रिश्वत लेता है, तो उसके लिए आर्थिक दंड और पदच्युत करने तक का प्रावधान था।[15] इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन व्यवस्था में न्यायिक त्रुटि केवल आध्यात्मिक दोष नहीं, बल्कि प्रशासनिक अपराध भी मानी जाती थी। इस प्रकार उत्तरदायित्व नैतिक, धार्मिक और संस्थागत—तीनों स्तरों पर विद्यमान था।

इसके अतिरिक्त, जनमत भी न्यायिक उत्तरदायित्व का महत्वपूर्ण नियंत्रण साधन था। राजा की प्रतिष्ठा उसके

---

[7] आर.पी. कांगले, कौटिल्य अर्थशास्त्र, भाग III (मोतीलाल बनारसीदास, __ संस्करण), पी। __ - न्याय के स्रोत के रूप में राजा।

[8] मनुस्मृति, अध्याय 8, श्लोक 1–12 — राजा का न्याय दायित्व और निष्पक्षता.

[9] कौटिल्य, *अर्थशास्त्र*, पुस्तक III, अध्याय 1–5 — न्यायिक प्रक्रिया और दंडनीति.

[10] नारद स्मृति, न्यायिक प्रक्रिया पर अध्याय; याज्ञवल्क्य स्मृति, व्यवहार अध्याय (साक्ष्य और परीक्षण पर अनुभाग)।

[11] पी.वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, खंड III (भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, संस्करण)

[12] पी.वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, खंड III (भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, संस्करण)

[13] मनुस्मृति, अध्याय 8, श्लोक 128–131 — अन्यायपूर्ण दंड और शासक का पाप.

[14] याज्ञवल्क्य स्मृति, व्यवहार अध्याय, श्लोक 1–5 — न्यायाधीशों का सत्य पालन.

[15] आर.पी. कांगले, कौटिल्य अर्थशास्त्र, भाग III (मोतीलाल बनारसीदास)- भ्रष्ट न्यायाधीशों के लिए दंड।

न्यायप्रिय होने पर निर्भर करती थी; अन्यायपूर्ण शासन को प्रजा का समर्थन नहीं मिलता था, जिससे विद्रोह और राज्य पतन की संभावना बढ़ जाती थी।[16] अतः न्याय केवल अदालत तक सीमित न होकर राजसत्ता की वैधता का आधार था।

अतः यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था में न्यायिक उत्तरदायित्व व्यक्तिगत नैतिकता, धर्मशास्त्रीय नियंत्रण, दंडात्मक प्रावधान तथा सामाजिक निगरानी के समन्वय से संचालित होता था। यही कारण है कि न्याय को शासन की आत्मा माना गया और न्याय से विचलन को राज्य के विनाश का कारण समझा गया।

IV. आधुनिक आपराधिक न्याय व्यवस्था की अवधारणा

आधुनिक आपराधिक न्याय व्यवस्था राज्य-केन्द्रित, संस्थागत तथा विधि-आधारित संरचना पर आधारित है। इस व्यवस्था में अपराध को केवल व्यक्ति के विरुद्ध कृत्य न मानकर राज्य तथा सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध अपराध के रूप में परिभाषित किया जाता है।[17] परिणामस्वरूप न्याय प्रदान करने की जिम्मेदारी किसी एक शासक व्यक्ति की न होकर विधिक संस्थाओं—पुलिस, अभियोजन तथा न्यायपालिका—पर निहित होती है। यह परिवर्तन न्यायिक उत्तरदायित्व को व्यक्तिगत नैतिकता से हटाकर संस्थागत उत्तरदायित्व की दिशा में स्थानांतरित करता है।

आधुनिक प्रणाली का मूल आधार Rule of Law की अवधारणा है, जिसके अनुसार सभी व्यक्ति, चाहे वे शासक हों या नागरिक, कानून के अधीन होते हैं।[18] इस सिद्धांत के अंतर्गत विधि सर्वोच्च मानी जाती है और न्यायिक प्रक्रिया पूर्वनिर्धारित नियमों के अनुसार संचालित होती है। भारत के संदर्भ में यह व्यवस्था संविधान द्वारा संरक्षित है, जो समानता, जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता जैसे मौलिक अधिकारों को न्यायिक संरक्षण प्रदान करता है।[19]

आपराधिक न्याय प्रणाली का संस्थागत ढाँचा तीन प्रमुख अंगों में विभाजित है—जांच (पुलिस), अभियोजन (Prosecution) और न्यायनिर्णयन (Judiciary)। दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 इन संस्थाओं की शक्तियों और कर्तव्यों को विनियमित करती है, जिससे न्याय प्रक्रिया में पारदर्शिता और वैधानिकता सुनिश्चित हो सके।[20] इसी प्रकार भारतीय दंड संहिता अपराधों की परिभाषा और उनके दंड का निर्धारण करती है, जो राज्य की दंडाधिकार शक्ति का विधिक आधार है।[21]

आधुनिक व्यवस्था में न्यायिक उत्तरदायित्व मुख्यतः प्रक्रिया की शुद्धता, साक्ष्य के मूल्यांकन तथा संवैधानिक मानकों के अनुपालन से जुड़ा हुआ है। न्यायाधीशों से अपेक्षा की जाती है कि वे निष्पक्ष रहें और केवल विधि तथा साक्ष्य के आधार पर निर्णय दें। हालांकि यह प्रणाली नैतिकता से पूर्णतः पृथक नहीं है, फिर भी इसका जोर व्यक्तिगत सदाचार की अपेक्षा संस्थागत निष्पक्षता और प्रक्रिया की वैधता पर अधिक है।

इस प्रकार आधुनिक आपराधिक न्याय व्यवस्था विधिक संरचना, संस्थागत उत्तरदायित्व तथा संवैधानिक मूल्यों पर आधारित एक व्यवस्थित तंत्र है, जिसका उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था की रक्षा करते हुए व्यक्ति के अधिकारों का संतुलित संरक्षण करना है।

V. राज्य बनाम व्यक्ति: आधुनिक संदर्भ में न्यायिक उत्तरदायित्व

आधुनिक आपराधिक न्याय व्यवस्था में न्यायिक उत्तरदायित्व का स्वरूप प्राचीन काल की व्यक्तिगत उत्तरदायित्व अवधारणा से भिन्न होकर संस्थागत ढाँचे में निहित हो गया है। अब न्याय का दायित्व किसी एक शासक व्यक्ति पर नहीं, बल्कि राज्य की विधिक संस्थाओं पर आधारित है। इस परिवर्तन ने न्याय को अधिक निष्पक्ष, नियमबद्ध और संरचित बनाया है, परंतु इसके साथ उत्तरदायित्व की प्रकृति अधिक औपचारिक और प्रक्रिया-केन्द्रित हो गई है।[22]

---

[16] एस. अल्तेकर, प्राचीन भारत में राज्य और सरकार (मोतीलाल बनारसीदास)— जनमत और राजशाही की वैधता।

[17] के.डी. गौर, इंडियन पीनल कोड पर टेक्स्टबुक (यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग)— राज्य के खिलाफ अपराध के रूप में क्राइम।

[18] ए.वी. डाइसी, इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ द लॉ ऑफ द कॉन्स्टिट्यूशन (मैकमिलन)— कानून के शासन की अवधारणा।

[19] भारत का संविधान, अनुच्छेद 14, 20, 21 — विधिक समानता और जीवन/स्वतंत्रता का संरक्षण.

[20] दंड प्रक्रिया संहिता, 1973, धारा 154, 173, 190 — जांच, अभियोजन और संज्ञान की प्रक्रिया.

[21] भारतीय दंड संहिता, 1860 — अपराधों की विधिक परिभाषा और दंड प्रावधान.

[22] एम.पी. जैन, भारतीय संवैधानिक कानून (लेक्सिसनेक्सिस)— संवैधानिक शासन में संस्थागत जवाबदेही।

आधुनिक व्यवस्था में न्यायिक उत्तरदायित्व मुख्यतः due process of law, निष्पक्ष सुनवाई, तथा साक्ष्य-आधारित निर्णय प्रक्रिया से जुड़ा है। न्यायाधीश व्यक्तिगत नैतिकता के आधार पर नहीं, बल्कि संविधान, विधि और स्थापित न्यायिक सिद्धांतों के अनुसार निर्णय देते हैं।[23] इस प्रकार उत्तरदायित्व का केंद्र "न्याय करने वाला व्यक्ति" न होकर "न्याय करने की प्रक्रिया" बन जाता है। यदि प्रक्रिया का पालन सही ढंग से हुआ है, तो निर्णय की वैधता मानी जाती है, भले ही नैतिक स्तर पर उस पर मतभेद संभव हों।

राज्य की संस्थाओं की जवाबदेही सुनिश्चित करने के लिए अपीलीय संरचना, न्यायिक पुनरावलोकन (Judicial Review) तथा संवैधानिक उपचारों की व्यवस्था की गई है।[24] उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय निम्न न्यायालयों के निर्णयों की समीक्षा कर सकते हैं, जिससे न्यायिक त्रुटियों के सुधार की संभावना बनी रहती है। इसके अतिरिक्त, मौलिक अधिकारों के उल्लंघन की स्थिति में नागरिक सीधे संवैधानिक न्यायालयों की शरण ले सकते हैं।[25] यह व्यवस्था व्यक्तिगत शासक की नैतिक जवाबदेही के स्थान पर विधिक और संस्थागत नियंत्रण को स्थापित करती है।

फिर भी, आधुनिक प्रणाली में एक महत्वपूर्ण चुनौती यह है कि राज्य एक अमूर्त इकाई है, जिसके कारण उत्तरदायित्व का प्रत्यक्ष नैतिक स्वरूप धुंधला हो जाता है। न्यायिक त्रुटि के लिए किसी एक व्यक्ति को दोषी ठहराना कठिन होता है, क्योंकि निर्णय सामूहिक संस्थागत प्रक्रिया का परिणाम होता है।[26] इस कारण न्याय का मानवीय और नैतिक पक्ष कभी-कभी औपचारिक प्रक्रिया के पीछे छिप जाता है।

अतः आधुनिक संदर्भ में "राज्य बनाम व्यक्ति" की अवधारणा यह स्पष्ट करती है कि न्यायिक उत्तरदायित्व अब व्यक्तिगत सदाचार से हटकर संवैधानिकता, प्रक्रिया की शुद्धता तथा संस्थागत पारदर्शिता पर आधारित है। यह व्यवस्था विधिक स्थिरता प्रदान करती है, परंतु इसे अधिक मानवीय और उत्तरदायी बनाने हेतु नैतिक मूल्यों के पुनर्संवेशन की आवश्यकता बनी रहती है।

[23] वी.एन. शुक्ला, भारत का संविधान (ईस्टर्न बुक कंपनी)— उचित प्रक्रिया और निष्पक्ष कार्यप्रणाली।

[24] भारत का संविधान, अनुच्छेद 32, 136, 226 — न्यायिक पुनरावलोकन और अपीलीय अधिकारिता.

[25] मेनका गांधी बनाम यूनियन ऑफ इंडिया, AIR 1978 SC 597 — प्रक्रिया न्यायसंगत, निष्पक्ष और उचित होनी चाहिए।

[26] उपेंद्र बख्शी, भारतीय कानूनी प्रणाली का संकट (विकास पब्लिशिंग)— संस्थागत न्याय की संरचनात्मक सीमाएँ।

VI. तुलनात्मक विश्लेषण

प्राचीन और आधुनिक न्याय व्यवस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि दोनों प्रणालियाँ न्याय को सामाजिक व्यवस्था की आधारशिला मानती हैं, किंतु न्यायिक उत्तरदायित्व की प्रकृति, आधार और क्रियान्वयन में मौलिक अंतर विद्यमान है। प्राचीन व्यवस्था में न्याय का केंद्र व्यक्ति अर्थात् राजा था, जबकि आधुनिक व्यवस्था में यह भूमिका राज्य की संस्थाओं द्वारा निभाई जाती है।[27]

प्राचीन काल में न्यायिक उत्तरदायित्व व्यक्तिगत, नैतिक और धार्मिक नियंत्रणों से संचालित होता था। राजा या न्यायाधीश द्वारा अन्याय किए जाने पर उसे पाप, अधर्म और दैवी दंड का भागी माना जाता था।[28] न्याय का उद्देश्य केवल अपराध का दमन नहीं, बल्कि सामाजिक संतुलन, धर्म की रक्षा और नैतिक व्यवस्था की पुनर्स्थापना था।[29] इस व्यवस्था में न्याय की वैधता शासक के चरित्र, निष्पक्षता और धर्मनिष्ठा पर निर्भर करती थी।

इसके विपरीत, आधुनिक न्याय व्यवस्था में उत्तरदायित्व संस्थागत और विधिक ढाँचे पर आधारित है। न्यायाधीशों का आचरण व्यक्तिगत धर्म से नहीं, बल्कि संविधान, विधि और प्रक्रिया के नियमों से नियंत्रित होता है।[30] यहाँ न्याय की वैधता प्रक्रिया की शुद्धता, साक्ष्य के परीक्षण और विधिक सिद्धांतों के अनुपालन से निर्धारित होती है। न्यायिक त्रुटियों को सुधारने के लिए अपीलीय तंत्र, पुनरावलोकन और संवैधानिक उपचारों की व्यवस्था की गई है, जो प्राचीन व्यवस्था में औपचारिक रूप से उपलब्ध नहीं थी।[31]

दोनों प्रणालियों के बीच एक अन्य महत्वपूर्ण अंतर पीड़ित की भूमिका में दिखाई देता है। प्राचीन व्यवस्था में पीड़ित पक्ष न्याय प्रक्रिया का सक्रिय भागीदार होता था, जबकि आधुनिक आपराधिक न्याय में राज्य अभियोजन का मुख्य पक्ष बन जाता है और पीड़ित की भूमिका अपेक्षाकृत सीमित

[27] पी.वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, खंड III (भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट)— प्राचीन भारत में राजशाही और न्याय की प्रकृति।

[28] मनुस्मृति, अध्याय 8, श्लोक 15–18 — न्याय में अधर्म और दैवी दंड की अवधारणा.

[29] कौटिल्य, *अर्थशास्त्र,* पुस्तक I, अध्याय 4; पुस्तक III, अध्याय 1 — दंडनीति और सामाजिक व्यवस्था.

[30] एम.पी. जैन, भारतीय संवैधानिक कानून (लेक्सिसनेक्सिस)— न्यायिक शक्ति पर संवैधानिक नियंत्रण।

[31] एम.पी. जैन, भारतीय संवैधानिक कानून (लेक्सिसनेक्सिस— न्यायिक शक्ति पर संवैधानिक नियंत्रण।

हो जाती है।[32] इससे न्याय की प्रकृति व्यक्तिगत विवाद से हटकर सार्वजनिक विधिक प्रक्रिया का रूप ले लेती है।

इस तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन व्यवस्था नैतिक उत्तरदायित्व पर आधारित थी, जबकि आधुनिक व्यवस्था विधिक उत्तरदायित्व पर। प्राचीन प्रणाली में न्याय मानवीय और नैतिक दृष्टिकोण से अधिक सशक्त था, किंतु उसमें प्रक्रिया की समानता का अभाव था। आधुनिक प्रणाली में विधिक समानता और संरचनात्मक पारदर्शिता है, परंतु उसमें नैतिक और व्यक्तिगत उत्तरदायित्व अपेक्षाकृत कम प्रत्यक्ष है। अतः एक संतुलित न्याय प्रणाली के लिए दोनों के श्रेष्ठ तत्वों का समन्वय आवश्यक प्रतीत होता है।

VII. समकालीन प्रासंगिकता

वर्तमान समय में न्यायिक व्यवस्था अनेक चुनौतियों का सामना कर रही है, जिनमें न्याय में विलंब, प्रक्रिया की जटिलता, पीड़ित की सीमित भूमिका तथा न्यायिक तंत्र पर बढ़ता बोझ प्रमुख हैं। ऐसे परिदृश्य में प्राचीन भारतीय न्याय परंपरा की नैतिकता-आधारित उत्तरदायित्व अवधारणा पुनर्विचार योग्य प्रतीत होती है। प्राचीन व्यवस्था इस बात पर बल देती थी कि न्याय केवल विधिक दायित्व नहीं, बल्कि नैतिक कर्तव्य भी है।[33]

आधुनिक न्याय व्यवस्था ने विधिक समानता, मानवाधिकार संरक्षण और प्रक्रिया की पारदर्शिता को सुदृढ़ किया है, जो किसी भी लोकतांत्रिक समाज की आधारशिला है।[34] तथापि न्यायिक उत्तरदायित्व का अत्यधिक संस्थागत स्वरूप कभी-कभी निर्णय प्रक्रिया को मानवीय संवेदनाओं से दूर कर देता है। न्यायाधीशों और न्यायिक अधिकारियों की नैतिक प्रतिबद्धता, संवेदनशीलता तथा सामाजिक उत्तरदायित्व को सुदृढ़ करना आज की प्रमुख आवश्यकता बन गई है।[35]

इसके अतिरिक्त, वैकल्पिक विवाद निवारण तंत्र (ADR), लोक अदालतें तथा पुनर्स्थापनात्मक न्याय (Restorative Justice) की अवधारणाएँ आधुनिक प्रणाली में उन तत्वों को पुनर्जीवित करती हैं, जो प्राचीन व्यवस्था में सामाजिक संतुलन और सुधार पर आधारित थे।[36] यह दर्शाता है कि आधुनिक न्याय व्यवस्था स्वयं भी अब कठोर दंडात्मक मॉडल से आगे बढ़कर मानवीय और सामंजस्यकारी दृष्टिकोण अपनाने की दिशा में अग्रसर है।

अतः समकालीन संदर्भ में यह आवश्यक हो जाता है कि न्यायिक प्रणाली केवल विधिक प्रक्रिया तक सीमित न रहकर नैतिक उत्तरदायित्व, संवेदनशीलता और लोककल्याण की भावना को भी आत्मसात करे। यही समन्वित दृष्टिकोण न्याय को अधिक प्रभावी, विश्वसनीय और समाजोन्मुख बना सकता है।[37]

VIII. निष्कर्ष

"राजा बनाम राज्य" की अवधारणा न्यायिक उत्तरदायित्व के ऐतिहासिक विकास को समझने का एक महत्वपूर्ण बौद्धिक आधार प्रस्तुत करती है। प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था में उत्तरदायित्व व्यक्तिगत, नैतिक और धर्माधारित था, जहाँ न्याय शासक के चरित्र और धर्मनिष्ठा से गहराई से जुड़ा हुआ था। इसके विपरीत, आधुनिक न्याय व्यवस्था संस्थागत, विधिक और संवैधानिक सिद्धांतों पर आधारित है, जहाँ न्याय की वैधता प्रक्रिया और विधि-पालन से सुनिश्चित होती है।[38]

दोनों प्रणालियों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन व्यवस्था में नैतिकता और उत्तरदायित्व की गहराई थी, जबकि आधुनिक व्यवस्था में संरचनात्मक समानता और विधिक सुरक्षा अधिक सुदृढ़ है। प्राचीन प्रणाली की कमजोरी प्रक्रिया की असमानता और व्यक्ति-निर्भरता थी, जबकि आधुनिक प्रणाली की चुनौती नैतिक संवेदनशीलता का अपेक्षाकृत कमजोर होना है।[39]

अतः एक आदर्श न्याय व्यवस्था के निर्माण हेतु आवश्यक है कि आधुनिक विधिक संरचना के भीतर प्राचीन न्याय दर्शन की नैतिकता, उत्तरदायित्व और लोककल्याण की भावना

---

[32] भारत का संविधान, अनुच्छेद 32, 226; दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 — अपीलीय एवं पुनरावलोकन व्यवस्था.

[33] के.आई. विभूते, क्रिमिनल जस्टिस (ईस्टर्न बुक कंपनी)— आधुनिक आपराधिक न्याय प्रणाली में पीड़ित की भूमिका।

[34] पी.वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, खंड III (भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट)— प्राचीन भारत में न्याय के नैतिक आधार।

[35] एम.पी. जैन, भारतीय संवैधानिक कानून (लेक्सिसनेक्सिस)— संविधानवाद और कानून का शासन।

[36] उपेंद्र बख्शी, द क्राइसिस ऑफ़ द इंडियन लीगल सिस्टम (विकास पब्लिशिंग)— न्याय प्रणाली को मानवीय बनाना।

[37] एन.आर. माधवा मेनन, भारत में आपराधिक न्याय प्रणाली (ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस)— ADR और पुनर्स्थापनात्मक रुझान।

[38] वी.एन. शुक्ला, भारत का संविधान (ईस्टर्न बुक कंपनी)— संविधान के तहत न्यायिक ज़िम्मेदारी।

[39] एस. अल्तेकर, प्राचीन भारत में राज्य और सरकार (मोतीलाल बनारसीदास)— राजशाही और नैतिक जवाबदेही।

को समाहित किया जाए। न्याय केवल कानून का अनुपालन नहीं, बल्कि समाज के प्रति उत्तरदायी नैतिक कर्तव्य भी है—यह बोध ही न्याय को जीवंत और जनविश्वासपूर्ण बना सकता है।[40]

संदर्भ सूची

[1] अल्टेकर, ए. एस. (1966). प्राचीन भारत में राज्य और सरकार। मोतीलाल बनारसीदास।

[2] बक्शी, यू. (1982). भारतीय कानूनी प्रणाली का संकट। विकास पब्लिशिंग हाउस।

[3] डाइसी, ए. वी. (1959). संविधान के कानून के अध्ययन का परिचय (10वां संस्करण)। मैकमिलन।

[4] गौर, के. डी. (2022). भारतीय दंड संहिता पर पाठ्यपुस्तक (8वां संस्करण)। यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग।

[5] जैन, एम. पी. (2021). भारतीय संवैधानिक कानून (9वां संस्करण)। लेक्सिसनेक्सिस।

[6] केन, पी. वी. (1973). धर्मशास्त्र का इतिहास (खंड III)। भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट।

[7] कांगले, आर. पी. (2010). कौटिल्य अर्थशास्त्र (भाग III)। मोतीलाल बनारसीदास।

[8] माधवन मेनन, एन. आर. (2019). भारत में आपराधिक न्याय प्रणाली। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

[9] पाउंड, आर. (1954). सामान्य कानून की भावना। बीकन प्रेस।

[10] राधाकृष्णन, एस. (1951). भारतीय दर्शन (खंड II)। जॉर्ज एलन एंड अनविन।

[11] शुक्ला, वी. एन. (2020). भारत का संविधान (13वां संस्करण)। ईस्टर्न बुक कंपनी।

[12] भारत का संविधान। (1950).

[13] दंड प्रक्रिया संहिता, 1973।

[14] भारतीय दंड संहिता, 1860।

[15] याज्ञवल्क्य स्मृति। (n.d.). व्यवहार अध्याय।

[16] नारद स्मृति। (n.d.). न्यायिक प्रक्रिया अध्याय।

[40] रोस्को पाउंड, द स्पिरिट ऑफ़ द कॉमन लॉ (बीकन प्रेस) — कानून सामाजिक इंजीनियरिंग के रूप में।